RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-18, अंक-2, मार्च अप्रैल मई 2025

रासो
त्रैमासिक शोध पत्रिका
2005
॥ स्वस्ति पन्थामनु चरेम् ॥

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-18 | अंक - 2 | मार्च-अप्रैल-मई-2025

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** - पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** - प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** - प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** - पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** - पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** - सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** - पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** - आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** - पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

✰ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

✰ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

✰ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

✰ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

✰ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

✰ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

✰ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

✰ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर दूरभाष : 0145-2442701

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक)	संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

वैदिक शिक्षा और जातक कालीन शिक्षा की विवेचना

डॉ. सुनीता जांगिड़
विभागाध्यक्ष (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

वैदिक युग में शिक्षा को अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया था। उस समय के आचार्यों का विश्वास था कि शिक्षा ही वह साधन है, जिसके माध्यम से व्यक्ति का निर्माण होता है; व्यक्ति के संस्कारों से समाज का विकास होता है और समाज के उत्थान से समूचे राष्ट्र की प्रगति सुनिश्चित होती है। भौतिक सफलता से लेकर आध्यात्मिक उन्नति और मोक्ष तक की आधारशिला शिक्षा ही थी। इसलिए शिक्षा को ऐसा स्वरूप दिया गया कि वह जीवन के साथ पूरी तरह मिल जाए, जैसे दूध में घुला पानी या शक्कर।

उस काल में जीवन के संबंध में जो आदर्श स्थापित किए गए थे, शिक्षा को उसी रूप में ढाला गया ताकि मनुष्य को वांछित दिशा में अग्रसर किया जा सके। केवल पाठ्यवस्तु याद कर लेना या पढ़ा देना ही शिक्षा नहीं थी; बल्कि यह विचार किया जाता था कि क्या पढ़ाया जाए, क्यों पढ़ाया जाए और किस उद्देश्य के लिए पढ़ाया जाए। इसी सोच ने शिक्षा को जीवन-उन्मुख और व्यक्तित्व-निर्माण से जुड़ा बनाया।

आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्माति -
शेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो
धार्मिकान्विद्धदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्या-
हिंसन्त्सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषं
ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते ।।

वेदों में वर्णित आदर्शों के अनुसार—विद्यार्थी को आचार्यकुल में वेदों का अध्ययन कर, गुरु का समुचित कार्य और गुरुदक्षिणा पूर्ण कर, समावर्तन-संस्कार के बाद गृहस्थ जीवन में प्रवेश करना चाहिए। वहाँ भी उसे स्वाध्याय करते रहना चाहिए। धर्म की जानकारी रखने वाले विद्वानों के साथ रहकर वह अपने मन और इन्द्रियों पर पूरी तरह नियंत्रण रखे। सभी जीवों के प्रति अहिंसा, करुणा और मैत्री-भाव बनाए रखे।

वैदिक चिंतन में शिक्षा की यात्रा अध्ययन से शुरू होकर मोक्ष पर समाप्त होती है। इसका अर्थ है कि यदि मनुष्य ज्ञान की धरती पर दृढ़ होकर लगातार आत्म-विकास करता रहे, तभी वह जीवन के चरम लक्ष्य—मोक्ष—को प्राप्त कर सकता है; अन्यथा नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् के बताए क्रम—आचार्यकुल में अध्ययन, फिर समावर्तन-संस्कार, उसके बाद गृहस्थ जीवन, स्वाध्याय, धर्मज्ञ विद्वानों का सत्संग, इन्द्रिय-निग्रह, अहिंसा या मैत्री-भाव और अन्ततः मोक्ष—एक सीधी और स्पष्ट आध्यात्मिक यात्रा का मार्ग दिखाते हैं। यह वह मार्ग था जिसकी खोज आर्य-विचारकों ने मानव-कल्याण के लिए की थी।

उनके मत में शिक्षा का अंतिम फल मोक्ष है, बशर्ते अध्ययन सही भावना, सही पद्धति और आत्मसात्

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

करने योग्य गंभीरता से किया गया हो। शिक्षा को वे केवल ज्ञान का साधन नहीं, बल्कि जीवन और राष्ट्र-निर्माण का आधार-स्तम्भ मानते थे। उन्होंने व्यक्ति को शिक्षा के द्वारा ऐसे ढाँचे में ढाला कि उसका चरित्र, दृष्टिकोण और व्यवहार सब कुछ परिष्कृत हो जाए। यही व्यक्तित्व आगे चलकर परिवार, समाज और राष्ट्र की एकता और मजबूती का कारण बना। परिणाम यह हुआ कि एक विशाल राष्ट्र भीतर से इतनी गहराई से एकसूत्र में बँध गया कि समय की अनेक आंधियों और आक्रमणों के बाद भी वह इतिहास के मंच से कभी मिट नहीं सका। यह वैदिक शिक्षा की असाधारण शक्ति का प्रमाण है।

वह शिक्षा साधारण नहीं हो सकती, जो मनुष्य की सोच को निर्मल और व्यापक बनाती है, जिसे सत्य-दृष्टि प्राप्त होती है, जो जीवन के उच्चतर आदर्शों को समझने की क्षमता प्रदान करती है। यह शिक्षा हमारे भीतर छिपी प्रतिभाओं को उचित दिशा में उभारती है, हमें स्वयं पर शासन करना सिखाती है, हमारे वास्तविक रूप और कर्तव्य को दिखाती है। यह मन, वाणी और कर्म तीनों में पवित्रता और एकरूपता लाती है; विविधताओं के भीतर विद्यमान शाश्वत एकता का ज्ञान कराती है। अंत में यही शिक्षा मनुष्य को साधारण 'नर' से दिव्य 'नारायण' के पद तक पहुँचने की शक्ति देती है।

ऋग्वेद का एक सरस्वती-सूक्त विद्या के प्रति आर्य-विचारकों की गहरी भावना को दर्शाता है।

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यशं वष्टु धियावसुः ।।
चोदयित्री सुनुतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती ।।
महो अणः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति।।

मंत्रों में सरस्वती को ऐसी शक्ति के रूप में प्रार्थित किया गया है जो मनुष्य की बुद्धि को पवित्र करती है, उसे जीवन के शुभ कार्यों की ओर प्रेरित करती है और ज्ञान द्वारा समृद्ध बनाती है। मंत्रों का आशय यह है कि सरस्वती—जो विद्या का ही प्रतीक है—अपने प्रबुद्ध प्रकाश से मनुष्य को श्रेष्ठ कर्मों की ओर उन्मुख करे और उसके सभी कार्यों की सफलता सुनिश्चित करे।

सरस्वती नः पावका, वाजेभिः वाजिनीवती; धियावसुः यज्ञं वष्टु।।
सुनृतानां चोदयित्री, सुमतीनां चेतयन्ती, सरस्वती यशं दधे।।
सरस्वती केतुना महो अर्णः प्र चेतयति, विश्वा धियः वि राजति।।

मंत्रों का अभिप्राय यह है कि विद्या मनुष्य को पवित्र करने वाली है; वह अन्न और समृद्धि प्रदान करने की क्षमता रखती है क्योंकि सभी कर्मों की सिद्धि बुद्धि के माध्यम से ही होती है। सत्य और सुकर्म की प्रेरणा देने वाली, उत्तम विचारों को विकसित करने वाली यह विद्या ही यज्ञ—अर्थात् जीवन के श्रेष्ठ प्रयत्न—को सफल बनाती है। ज्ञान का यह प्रवाह जीवनरूपी महासागर को स्पष्ट रूप से समझने की शक्ति देता है और बुद्धि के हर रूप को प्रकाशमान करता है।

सरस्वती-सूक्त से यह पूर्णतः स्पष्ट होता है कि सरस्वती का वास्तविक अर्थ विद्या ही है। अनादि काल से प्रवाहित होने के कारण ज्ञान-धारा को 'सरस्वती' कहा गया। विद्या रस देती है—रहस्यों और ज्ञान की प्राप्ति से निर्मल आनन्द उत्पन्न होता है—इसीलिए 'सः + रस + वती' अर्थात् 'सरस्वती' नाम पड़ा। इसी प्रकार सरस्वती नदी के तट पर ऋषियों के आश्रम और गुरुकुल बसे हुए थे, जहाँ अनादि काल से शिक्षा का कार्य चलता रहा; इसलिए उस नदी का नाम भी विद्या के प्रतीक रूप में 'सरस्वती' ही हो गया।

वैदिक चिंतन के अनुसार ज्ञान के तीन रूप—आध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव—माने गए हैं, और इन्हीं तीनों का समन्वय विद्या कहलाता है। सरस्वती-सूक्त में 'सरस्वती' इसी समग्र, ज्ञानमयी विद्या का नाम है। वैदिक ऋषियों की कामना थी कि मनुष्य की बुद्धि अविद्या के अहंकार से नहीं, बल्कि ईश्वरीय प्रकाश से आलोकित हो। इसीलिए उस समय की शिक्षा-पद्धति तप, अनुशासन और पवित्र आचरण पर आधारित थी। उनका मूल सिद्धांत था कि उच्च लक्ष्य प्राप्त करने के लिए साधन भी पवित्र और उच्च कोटि के होने चाहिए।

विद्यारम्भ के प्रथम चरण में उपनयन संस्कार होता था, जिससे शिष्य का आचार्य से आध्यात्मिक और शिक्षण-संबंध स्थापित होता था। 'छात्र' शब्द का अर्थ ही है—जो गुरु की छत्र-छाया में संरक्षित रहे। गुरु इस बात का विशेष ध्यान रखते थे कि किसी भी प्रकार का दूषण या दोष विद्यार्थी के चरित्र को स्पर्श न करे, क्योंकि विद्यार्थी का निर्माण ही राष्ट्र-निर्माण का आधार माना जाता था। इसीलिए गुरु-शिष्य का संबंध अत्यंत निकट और आत्मीय होता था।

प्राचीन परंपरा में छात्र अक्सर अपने गुरु के नाम से पहचाना जाता था—जैसे पाणिनि के विद्यार्थियों को 'पाणिनीय' कहा जाता था। छात्र का नाम उसके अध्ययन-विषय के अनुसार भी पड़ता था—छन्द पढ़ने वाला छांदस, व्याकरण का विद्यार्थी वैयाकरण, निरुक्त का नैरुक्त, वेद पढ़ने वाला वैदिक, तथा यज्ञ-विधानों—अग्निष्टोम, वाजपेय आदि—का अध्ययन करने वाले उनके नाम के अनुसार पुकारे जाते थे। ऋतुविज्ञान का अध्ययन करने वाले आग्निष्टोमिक या वाजसनेयिक कहलाते थे। सूत्रों का अध्ययन करने वाले वार्तिक-सूत्रिक, संग्रह-सूत्रिक आदि।

आचार्य भी अपने-अपने विषय की उपाधि रखते थे—वेद और छन्द पढ़ाने वाला 'श्रोत्रिय', और वेदार्थ का विवेचन करने वाला 'प्रवक्ता' कहलाता था। बिना कारण गुरु को छोड़कर जाने वाला विद्यार्थी 'तीर्थकाक' कहलाता था, जैसा कि पाणिनी ने उल्लेख किया है—

यो गुरुकुलं गत्वा न चिरं तिष्ठति स उच्यते तीर्थकाक इति।

''जो विद्यार्थी गुरुकुल में जाकर अधिक समय न ठहरे, उसे तीर्थकाक कहा जाता है।''

वेद-पाठ की पद्धति अत्यंत अनुशासित थी। गुरु मंत्र को केवल पाँच बार बोलते थे और विद्यार्थी का कर्तव्य था कि पहली ही बार सुनकर उसे स्मरण कर ले। जो पहली बार सुनते ही पूरी तरह याद कर लेता था, वह 'एकसंधग्राही' कहलाता था। जो छात्रों वेद-पाठ में जितनी अशुद्धियाँ करते, उनके नाम उसी संख्या पर रखे जाते—ऐकान्यिक, द्वैयन्यिक, त्रैयन्यिक आदि। अधिक अशुद्धियाँ होने पर नामकरण 'त्रयोदशान्यिक' या 'चतुर्दशान्यिक' तक भी पहुँच जाता, जो लज्जा का कारण माना जाता था।

विद्यार्थी आचार्य के घर में रहकर शिक्षा ग्रहण करता था, इसलिए वह 'अन्तेवासी' कहलाता था। वैदिक विद्यालयों को 'चरण' भी कहा जाता था। स्त्रियों के लिए भी अध्ययन के बराबर अवसर थे—उनके लिए अलग छात्रावास और उपयुक्त व्यवस्थाएँ थीं। कठचरण में अध्ययन करने वाली स्त्रियों को 'कठी' कहा जाता था।

वैदिक शिक्षा-पद्धति की एक अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता थी—परिषद्। प्रत्येक शिक्षा-चरण में एक विद्वत-परिषद् होती थी, जिसमें अध्यापक तथा उन्नत छात्र शामिल रहते थे। वैदिक शाखाओं, पाठों की

शुद्धि, और संदिग्ध अर्थों पर यह परिषद् गंभीर वाद-विवाद के बाद निर्णय करती थी। इन्हीं परिषदों के विचार-विमर्श और निर्णयों से 'प्रातिशाख्य' ग्रंथों का निर्माण हुआ, जो वैदिक पाठ-पद्धति के मूल ग्रंथ माने जाते हैं।

चरक-संज्ञक वैदिक संस्थाएँ शिक्षा-विधि की दृष्टि से अत्यंत प्रतिष्ठित थीं। ब्रह्मचर्य शिष्य जीवन का अनिवार्य नियम था, क्योंकि ब्रह्मचर्य द्वारा ही ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण का परिशोधन संभव माना जाता था। ब्रह्मचारी शिष्य कृष्ण-मृगचर्म धारण करता था और तप के माध्यम से आचार्य को तृप्त करता था– **'आचार्यः तपसा पिपर्ति।'** शास्त्रों में यह भी मिलता है कि शिष्य के पाप का अंश आचार्य को भी लगता है, इसलिए गुरु अत्यंत सावधान रहते थे कि शिष्य का चरित्र और आचरण शुद्ध बना रहे।

शिष्य का जीवन अत्यधिक अनुशासन से बँधा होता था। वह और्वानल और पार्थिव—दोनों अग्नियों का धारणकर्ता कहा जाता था, अर्थात् भीतर और बाहर की अग्नि—तप, अनुशासन और कर्म—का संयमित पालन उसकी दिनचर्या का हिस्सा था। जीवन के प्रारम्भिक चरण में ही उसे इतनी तपस्या और नियमों से दृढ़ बनाया जाता था कि आगे चलकर संसार की कठिनाइयाँ, संकट और संघर्ष उसकी दृढ़ता को डिगा न सकें।

वैदिक साहित्य में कहा गया है कि विद्या से मनुष्य को श्रद्धा, मेधा, प्रजा (संतान), धन, यश और अमृतत्व की प्राप्ति होती है। इसलिए विद्या को भौतिक सफलता और आध्यात्मिक मुक्ति—दोनों की प्रदानकर्त्री कहा गया है। सांसारिक उन्नति और आध्यात्मिक सिद्धि—दोनों क्षेत्रों में पूर्ण सफलता देना ही विद्या का सर्वोच्च गुण माना गया।

गुरुकुल में अध्ययन आरम्भ करने की परम्परा बहुत छोटी आयु से शुरू हो जाती थी। श्वेतकेतु ने बारह वर्ष की उम्र में अपने पिता उद्दालक से शिक्षा प्रारम्भ की थी और यह अध्ययन आठ वर्षों तक चलता रहा। उपकोसल ने भी अपने गुरु जाबालि की सेवा करते हुए बारह वर्षों तक शिक्षा प्राप्त की। कहीं-कहीं 32 वर्ष तक या जीवन-भर अध्ययन किए जाने का वर्णन भी मिलता है।

छात्रावस्था पूर्ण हो जाने के बाद भी शिक्षा समाप्त नहीं मानी जाती थी। ऐसे विद्यार्थी, जिन्हें ज्ञान का गहरा प्रेम होता था, उन्हें 'चरक' कहा जाता था। ये छात्रावास की शिक्षा समाप्त करने के बाद भी विभिन्न आचार्यों के पास जाकर विद्या का अर्जन जारी रखते थे। डॉ. अल्तेकर के अनुसार छात्रावास में रहने वाले ब्रह्मचारियों को 'अवधि-सीमा' के नियमों में भी विशेष छूट दी जाती थी। (पाराशर-स्मृति की माधवटीका में कात्यायन-वचन (311, 10 149) पाराशर-स्मृति की माधवटीका में कात्यायन का यह कथन उल्लेखनीय है–

ब्रह्मचारी चरेत्कश्चिद् व्रतं षट्त्रिंशदाब्दिकम् ।
समावृत्तो व्रती कुर्यात्स्वधन्यान्वेषणस्ततः ।।
पंचाशदाब्दिको भोगस्तद्धनस्यापहारकः ।

''ब्रह्मचारी कुछ लोग 36 वर्ष तक व्रत का पालन करें। समावर्तन के बाद गृहस्थ बनकर अपनी जीविका खोजें। पचास वर्ष की आयु में भोग-विलास उचित नहीं है, क्योंकि इससे अर्जित धन का विनाश होता है।''

गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के बाद भी वे अध्ययन छोड़ते नहीं थे। चरक कहलाने वाले ये विद्वान जीवन-भर ज्ञान प्राप्ति और उसके प्रसार में लगे रहते थे। वे गाँव-गाँव और नगर-नगर घूमकर लोगों को

शिक्षा देते थे और देशहित में स्वयं को समर्पित रखते थे। इन्हें सच्चे अर्थों में 'जीवन-दानी' कहा जा सकता है।

उद्दालक अरुणि, शौनक, पतञ्जलि काप्य, पंच महाशाल, महातपसीर, नारद आदि महान ऋषि स्थिर होकर कहीं नहीं रहते थे। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक यात्राएँ करते हुए वे ज्ञान एकत्र करते थे और जहाँ जाते, वहां विद्या का विस्तार करते थे। इसी वैदिक परम्परा को ध्यान में रखकर भगवान बुद्ध ने भी भिक्षुओं को 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' उद्देश्य से निरंतर भ्रमण करने का उपदेश दिया था।

उच्च शिक्षा के लिए वैदिक काल में विद्वत्परिषद्, विद्वत्समितियों और 'परिषदों' का विशेष स्थान था। इन विद्वान संस्थाओं का उल्लेख विभिन्न ग्रंथों में मिलता है, यहाँ तक कि पाणिनि (4.3.123) ने भी इन परिषदों का स्मरण किया है। ज्ञान को सबसे ऊँचा स्थान दिया गया था—उसके सामने न पुत्र का महत्व था और न ही संपत्ति का। राजा जनक जब याज्ञवल्क्य के चरणों में नतमस्तक होकर बोले कि "मैं आपका सेवक हूँ और अपना राज्य आपके लिए अर्पित करता हूँ," तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"पूर्वज ज्ञानियों ने कहा है कि जिसे आत्मज्ञान प्राप्त हो जाए, उसे संतान की आवश्यकता नहीं रहती।"

चरक कहलाने वाले महान विद्वान त्यागमय जीवन अपनाकर गाँव-गाँव, घर-घर घूमकर लोकहित के लिए अपना ज्ञान बाँटते थे। याज्ञवल्क्य ऐसे ही तेजस्वी और तपस्वी ऋषियों में एक थे। आर्य संस्कृति का निर्माण सहज नहीं हुआ; इसे खड़ा करने में असंख्य महाज्ञानी, महातपस्वी और जीवनदानी ऋषियों ने सहस्राब्दियों तक अपने अर्जित ज्ञान को समाज के प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचाया। इनका उद्देश्य केवल आजीविका प्राप्त करना नहीं था—वे अपनी विद्या का प्रत्येक अंश समाज के कल्याण के लिए समर्पित करते थे।

अथर्ववेद (6.41.1) का एक मंत्र बताता है कि मन, अन्तःकरण, सही ज्ञान, स्मरणशक्ति, प्रतिभा, चेतना, मनन, गुरु के उपदेश की शक्ति और आत्मदृष्टि—इन सबकी प्राप्ति के लिए हमें 'यश-कर्म' करना चाहिए। यश-कर्म का अर्थ है—वह कर्म जो सभी की उन्नति और जनकल्याण के लिए किया जाए:

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत्त चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्।।

विद्या प्राप्त करने के बाद ऋषि गृहस्थ जीवन को प्रणाम करते हुए लोककल्याण के मार्ग पर निकल पड़ते थे। वे अपने अंतिम क्षण तक समाजहित में लगे रहते थे। उस युग में 'कर्म' ही विद्वानों का धर्म था। आज की तरह पद, प्रतिष्ठा और 'कुर्सी-तोड़' विद्वानों की मानसिकता वैदिक वाङ्मय में कहीं नहीं मिलती। वहाँ विद्वता का अर्थ था—ज्ञान को जीवित रखना और उसे समाज के कल्याण में लगाना।

वैदिक युग में ज्ञान का द्वार सभी के लिए खुला था। मनु ने शूद्र अध्यापक और शूद्र शिष्यों—दोनों का उल्लेख किया है, जिससे स्पष्ट होता है कि शिक्षा किसी एक जाति तक सीमित नहीं थी। यह मान्यता कि वैदिक शिक्षा केवल उच्च वर्ग के लिए थी, ऐतिहासिक रूप से असत्य है। हाँ, अपात्र व्यक्तियों और पतितों को दिव्य-ज्ञान नहीं दिया जाता था, क्योंकि ऐसा ज्ञान व्यक्ति की शक्तियों को अत्यधिक बढ़ा देता है। यदि यह शक्ति किसी गलत हाथ में पड़ जाए, तो वह समाजहित के बजाय विनाश का कारण बन सकती है। आज के युग में भी हम देखते हैं कि कुछ आधुनिक वैज्ञानिकों ने ऐसे-ऐसे अस्त्र बना दिए हैं, जो मानव-संहार का साधन बन गए हैं—यह स्थिति प्राचीन सावधानियों को बिल्कुल सही ठहराती है।

जातक काल में व्यापार और वाणिज्य अत्यंत विकसित स्तर पर पहुँच चुके थे। अनाथपिण्डक, जिसने

बुद्धदेव को अत्यंत मूल्यवान उद्यान दान किया था, उसके सार्थ दक्षिण-पूर्व दिशा में सावत्थी से राजगृह तक नियमित रूप से व्यापार-मार्ग पर चलाया करते थे। यह दूरी लगभग 300 मील थी। केवल यही नहीं, वे गन्धार जैसे दूरस्थ प्रदेशों तक भी अपनी यात्रा करते थे। पहाड़ों की तलहटी से होते हुए ये कारवाँ कुसीनारा की दिशा में आगे बढ़ते थे। मार्ग में बारह पड़ाव पड़ते थे, जिनमें वैशाली भी एक प्रमुख विश्राम-स्थान था। नदी पार करने की आवश्यकता केवल पाटलिपुत्र में होती थी।

बुद्धदेव की अंतिम यात्रा भी इसी मार्ग से होकर कुसीनारा की ओर गई थी। व्यापार की सुविधा के लिए एक दूसरा मार्ग भी था, जो सावत्थी से दक्षिण-पश्चिम दिशा में पतिट्ठान (आज का पैटण) तक जाता था। इस मार्ग में कुल छह प्रमुख पड़ाव आते थे, जो व्यापारिक गतिविधियों को सुचारु बनाए रखते थे।

जातक काल में व्यापार और वाणिज्य अत्यधिक उन्नत अवस्था में पहुँच चुके थे। अनाथपिण्डक, जिसने बुद्धदेव को अमूल्य उद्यान दान किया था, उसके कारवाँ (सार्थ) दक्षिण-पूर्व दिशा में सावत्थी से राजगृह तक लगातार यात्रा करते थे। यह दूरी लगभग 300 मील की थी, जिसे व्यापारी नियमित रूप से तय करते थे। उनकी व्यापारिक गतिविधियाँ केवल भारत के भीतर तक ही सीमित नहीं थीं; वे गन्धार जैसे दूरस्थ और सीमा-प्रदेशों तक भी पहुँचती थीं। पहाड़ी क्षेत्रों की तलहटी से होकर उनके कारवाँ कुशीनारा की दिशा में भी जाते थे। इस मार्ग में कुल 12 पड़ाव पड़ते थे, जिनमें वैशाली विशेष रूप से महत्वपूर्ण था। रास्ते में नदी केवल पाटलिपुत्र में ही पार करनी पड़ती थी। स्वयं बुद्धदेव की अंतिम यात्रा भी इसी मार्ग से होकर कुसीनारा की ओर गई थी।

व्यापार की सुविधा को ध्यान में रखते हुए एक दूसरा मार्ग भी प्रचलित था, जो सावत्थी से दक्षिण-पश्चिम की ओर पतिट्ठान (आज का पैटण) तक जाता था। इस मार्ग पर कुल छह पड़ाव आते थे, जो उसे एक सुगठित वाणिज्यिक पथ बनाते थे।

जहाँ तक जल-पथ का संबंध है, उसका वर्णन यहाँ छोड़ दिया जा रहा है, पर जातक कथाओं में स्थल और जल—दोनों मार्गों का उल्लेख बार-बार मिलता है।

पश्चिम दिशा में जो प्रमुख व्यापार-पथ था, वह सिन्धु प्रदेश तक जाता था और सोवीर के समुद्रतटीय नगरों तथा रोरुब जैसे बंदरगाहों से होकर गुजरता था। व्यापारी स्थल-मार्ग से भी इस दिशा में जाते थे। राजपूताना के विस्तृत मरुस्थल को पार करके वे अपने व्यापारिक अभियानों को आगे बढ़ाते थे। तीव्र गर्मी से बचने के लिए रात के समय यात्रा की जाती थी और दिशा-निर्देशन के लिए तारों का सहारा लिया जाता था।

समुद्री मार्गों का भी व्यापक उपयोग होता था। व्यापारी समुद्र के रास्ते से बावेरु (बेबिलोन) तक की यात्रा करते थे। एक अन्य प्रमुख मार्ग मध्य एशिया को भारत के पश्चिमी भाग से जोड़ता था। यह स्थल मार्ग था, और इसी पथ पर तक्षशिला स्थित थी। इस मार्ग के किनारे साकेत, सावत्थी, वाराणसी और राजगृह जैसे बड़े नगर आते थे। पाणिनि ने इस पथ को 'उत्तरापथ' कहा है। यह मार्ग अत्यंत सुरक्षित और सुगम माना जाता था, इसलिए व्यापारी और यात्रियों का आवागमन निर्भय होकर चलता रहता था। मध्यदेश के अनेक विद्यार्थी भी बिना किसी सैनिक सुरक्षा के, बड़े निश्चिंत भाव से तक्षशिला पहुँचकर उच्च शिक्षा प्राप्त करते थे।

उस समय पूरे देश में व्यापारिक मार्गों का एक घना नेटवर्क विकसित हो चुका था। कोशिश यह रहती थी कि बड़े-बड़े नदियों को बार-बार पार न करना पड़े, क्योंकि माल को नाव पर चढ़ाना-उतारना और फिर से लादना बहुत कठिन और समय नष्ट करने वाला काम था।

जातक युग के गाँव आज के भारतीय गाँवों से काफी मिलते-जुलते थे। वहीं, बड़ी संख्या में नगर भी अस्तित्व में आ चुके थे। यूनानी इतिहासकारों के विवरण बताते हैं कि केवल मालक-शुद्रक और उसके आस-पास के गणराज्यों में ही लगभग 500 नगर थे—यह संख्या केवल पंजाब क्षेत्र की है, सम्पूर्ण भारत की नहीं। यह स्पष्ट है कि गाँवों और नगरों के बीच एक गहरी सामाजिक खाई बन चुकी थी। गाँवों की शक्ति और संसाधनों का शोषण करके ही शहरों का वैभव बढ़ता है; शहर स्वयं तो अचानक पैदा नहीं होते। जैसे-जैसे पूँजी सघन होती है, गाँव कमजोर होते जाते हैं और शहर फैलते जाते हैं। वैदिक साहित्य में इसलिए नगरों और बड़े बाज़ारों का उल्लेख बहुत कम मिलता है। किंतु जातक काल तक बाज़ार सामान्य हो चुके थे।

शहरों के प्रवेश-द्वार के बाहर ही एक विशेष बाज़ार लगता था, जिसे 'भव-मज्झक' कहा जाता था। भरहुत स्तूप के एक शिलालेख में इसका उल्लेख मिलता है और संबंधित जातक का नाम भी 'भवमज्झकीय' दर्ज है।

शहरों के भीतर भी व्यवस्थित बाज़ार थे, जहाँ तरह-तरह की वस्तुओं—जैसे कपड़े, रथ-सामग्री, अनाज, दालें, फल-सब्ज़ियाँ, मूल्यवान रत्न, सोना-चाँदी और गहनों—की खरीद-बिक्री होती थी। लेकिन शराब, मांस, मारक औषधियाँ, दास-दासियाँ, विष या अस्त्र-शस्त्र का व्यापार सभ्य समाज में अत्यंत निंदनीय समझा जाता था। भद्रजन इन वस्तुओं के व्यापार को अपमानजनक मानते थे।

इस समय 'फाटक' नामक एक वस्तु का भी विशेष व्यापार होता था जिसके लिए अलग मंडी थी—इसे 'फाटक-चाचार' कहा जाता था। व्यापार का विस्तार जितना बढ़ा, चोरी, धूर्तता और अनैतिक लाभ कमाने की प्रवृत्ति भी उतनी ही बढ़ी। जातक कथाएँ बताती हैं कि कई व्यापारी 200 से 400 प्रतिशत तक का लाभ लेते थे। कुछ व्यापारी छूट के नाम पर खुलेआम लोगों को धोखा देते थे। कई धनी व्यापारियों ने इसी प्रकार अनैतिक तरीकों से अथाह संपत्ति—कभी-कभी 80 करोड़ तक—संचित की थी। इसी तरह अत्यधिक लाभ लूटने की एक कथा में व्यापार में 20,000 प्रतिशत तक मुनाफे का उल्लेख मिलता है।

उस समय मूल्य-निर्धारण के राजकीय अधिकारी 'निक्ख' और 'सुवर्ण' जैसी स्वर्ण-मुद्राओं के आधार पर कीमत तय करते थे। कांस, पाद, मासक, काकणिक जैसे सिक्के भी प्रचलित थे। सिक्कों का उपयोग अत्यंत व्यापक हो चुका था। रक्षक कर्मियों और द्वारपालों को भी नकद भुगतान किया जाता था। बौद्ध-संघ के लिए एक नियम यह था कि संघ नकद दान स्वीकार नहीं कर सकता था; साधुओं को केवल वस्तु-रूप में ही दान दिया जा सकता था।

जब लेन-देन का आधार सिक्के बन गए, तब यह मान लेना व्यर्थ है कि समाज में टूट-फूट, गरीबी, शोषण और अनाचार नहीं बढ़ा होगा। जातक काल तक आते-आते सिक्कों का प्रभाव पूरे समाज पर स्थापित हो चुका था और मानव-जीवन पतन की ओर बढ़ चला था—यह बात स्पष्ट दिखाई देती है।

उस समय ऐसे लोग भी थे जो अपनी पत्नी और बच्चों तक को गिरवी रखकर कर्ज लेते थे। दूसरी ओर, ऐसे कठोर महाजन मौजूद थे जो किसी निर्धन व्यक्ति की स्त्री और बच्चों को गिरवी स्वीकार कर लेते

थे। कई बार तो महाजनों की कठोरता से तंग आकर कर्जदार उनके सामने ही नदी में कूदकर जान तक दे देते थे—ऐसे प्रसंग भी मिलते हैं।

इन अभागे कर्जदारों के लिए कहीं कोई सहारा न था। यदि वे महाजनों के अत्याचारों से बचने के लिए भिक्षु बनना चाहते, तो वहाँ भी उनका प्रवेश रोक दिया जाता था। जब पत्नी-बच्चों को गिरवी रखकर कर्ज देने वाले महाजन मौजूद हों, तब उन्हें बचाने वाला कौन हो सकता है? जैसे मगरमच्छ के मुंह में फँसे जीव को निकालना कठिन है, वैसे ही इन पीड़ितों को महाजनों से छुड़ाना लगभग असंभव था।

जातक युग तक आते-आते अत्यधिक धन बटोरने की विकराल लालसा जन्म ले चुकी थी। यह लोभ मानवता का रक्त चूसकर पला और उसी युग में परिपक्व भी हो गया। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि लोग मजबूरी में अपनी स्त्री-पुत्रों को महाजन की सेवा में भेजकर कर्ज लेते थे, और महाजन बिना संकोच यह अमानवीय शर्तें रख देते थे। गरीब और चिंताग्रस्त लोग अपने प्राण बचाने के लिए इस कठोर व्यवस्था को स्वीकार करने को विवश थे।

जातक-काल में पेशा केवल जन्म या जाति पर निर्भर नहीं रहता था। सभी वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—परिस्थिति के अनुसार कोई भी काम अपना सकते थे। उस समय ब्राह्मण भी बहेलिया का काम करते मिलते हैं। वैदिक परंपरा में जो लचीलापन था, वही जातक युग में भी दिखाई देता है। कई ब्राह्मण, क्षत्रिय और उच्च वर्ण के लोग गाड़ियाँ चलाने, पहरा देने, धनुष चलाने, कुम्हारी जैसे कार्य करते थे। विपत्ति आने पर लोग बिना संकोच किसी भी पेशे को अपना लेते थे; समाज में इसका विरोध नहीं था।

उस युग में पशुधन की भी भरपूर उपलब्धता थी। कृषि-समृद्धि का एक बड़ा संकेत गोधन था। सिकन्दर ने भारत से लगभग 2,30,000 उत्तम बैल लूटकर अपने देश भेजे थे। तक्षशिला से उसने 3000 मजबूत बैल, 10,000 भेड़ें, और सौभूति नामक राजा से युद्ध के लिए आवश्यक घोड़े-कुत्ते प्राप्त किए। शूद्रक जाति ने भी उसे पालतू शेर, बाघ और हाथी-घोड़े दिए—कितने, इसका ठीक-ठीक विवरण नहीं मिलता। ये घटनाएँ लगभग ईसा-पूर्व 325 की हैं, यानी आज से लगभग 2280 वर्ष पूर्व की। ध्यान रखने योग्य बात यह है कि बुद्ध का समय आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व का माना जाता है।

जातक कथाओं में डाकुओं का भी बहुत उल्लेख मिलता है। जहाँ धन का संचय होगा, वहीं धन छीनने वाले भी प्रकट होंगे। कई लोग अनियंत्रित शोषण और ऋण-भार के कारण डकैती की ओर धकेले गए। वैदिक युग में 'दस्यु' पशुओं की चोरी करते थे—यह सीधे-सीधे डकैती नहीं थी, बल्कि आर्यों के विस्तार का विरोध था। परंतु जातक युग तक आते-आते तो ऐसे गाँव भी मिलते हैं जहाँ पूरी बस्ती डाकुओं से भरी थी—लगभग 500 डाकू वहाँ घर बनाकर रहते थे। ये लोग कभी-कभी पूरे काफिलों और गाँवों को लूट लेते थे और स्त्रियों को भी पकड़ ले जाते थे।

यह प्रसंग सीधे-सीधे व्यापार से नहीं जुड़ता, लेकिन इससे यह बात स्पष्ट होती है कि व्यापार ने जहाँ कुछ लोगों को अत्यधिक धनी बना दिया, वहीं कई लोग इतने निर्धन हो गए कि उन्हें अपनी पत्नी-संतानों को भी सूदखोरों के पास गिरवी रखना पड़ता था। धनी और गरीब के बीच का अंतर अत्यंत बढ़ गया था, और इन्हीं दो अतियों के मध्य की खाई में चोर-डाकू पैदा होते थे। जातक युग में लूट-मार दो प्रकार की थी—कुछ लोग व्यापार के नाम पर ठगी करते थे, और कुछ गिरोह बनाकर रात में डकैती डालते थे। यह एक अत्यंत विचित्र और असंतुलित स्थिति थी।

उस समय ऐसे उद्योगी भी मिलते हैं जिन्होंने एक मरे हुए चूहे को बेचकर व्यापार शुरू किया और बाद में बड़े धनवान बन गए। पाँच-पाँच के समूह में व्यापारी लंबी यात्राओं पर निकलते थे। भारतीय व्यापारी कौओं और मोरों को भी विदेश ले जाकर 500 से 1000 कार्षापण तक में बेच देते थे। यह व्यापार बावेरु-देश में होता था—बावेरु अर्थात् बेबिलोन। भारत और बेबिलोन का व्यापार ईसा-पूर्व 480 के आसपास बंद हो गया, इसलिए यह प्रसंग उससे कुछ पहले का माना जाता है।

भारत की वस्तुएँ—जैसे नीम-इमली की लकड़ी, भारतीय मलमल—मिस्र की ममियों में भी मिली हैं। मिस्र के राजा तुतेनखामेन की समाधि की खुदाई में भारत निर्मित अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुईं। यह व्यापार लगभग ईसा-पूर्व 460 के आसपास चरम पर था। यूनान का प्रसिद्ध नगर एथेंस भारतीय उत्पादों से भरा रहता था। भारत का प्रमुख व्यापार-केन्द्र शूरपारक (सोपारा) और भरुकच्छ (भरूच) थे। जातक-काल व्यापार की दृष्टि से वास्तव में स्वर्ण-युग था, यद्यपि व्यापक गरीबी भी इसी समय बढ़ती चली गई।

इन सभी विरोधाभासों के बावजूद, यूनानी लेखकों, बौद्ध ग्रंथों और अशोक के शिलालेखों में भारत का जो चित्र मिलता है, वह आकर्षक, व्यवस्थित और समृद्ध था। इन सभी स्रोतों को मिलाकर देखा जाए तो जातक-युग का भारत एक सुंदर, जीवंत और विकसित सभ्यता के रूप में सामने आता है।

निष्कर्षतः जातक-युग में भारत व्यापार, कृषि और पशुधन में समृद्ध था। स्थल और जल मार्गों से अंतरराष्ट्रीय व्यापार होता था। समाज में पेशे जाति तक सीमित नहीं थे; विपत्ति पर कोई भी काम अपनाया जा सकता था। धनवान और गरीब के बीच गहरा अंतर था, जिससे कर्ज, गिरवी और डकैती जैसी समस्याएँ जन्मी। फिर भी, भारत सांस्कृतिक, आर्थिक और व्यापारिक दृष्टि से विकसित था, जैसा बौद्ध ग्रंथों, ग्रीक यात्रियों और अशोक के शिलालेखों में मिलता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. *बृहदारण्यक उपनिषद, गीताप्रेस गोरखपुर, सं. 2071*
2. *जातक-कालीन भारतीय संस्कृति, पंडित मोहनलाल महतो 'वियोगी', बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1968*
3. *अगुन्तरनिकाय, संपादित आर. मारिस एवं ई. हार्डी, पी.टी.एस. लंदन, 1883-1900*
4. *जातक, संपादित, फाउस बोतल, ट्रबनर एण्ड कम्पनी लि., लंदन 1877-96*
5. *थेरगाथा, संपादित ओल्डनबर्ग, पी.टी.एस. लंदन, 1883*
6. *थैरीगाथा, संपादित एन.के. बम्बई, 1937*
7. *विनय पिटक, अनुदित, रीज डेविड्स, टी.डब्ल्यू. और ओल्डेन का, एसबीई, जिल्द-13, 17, 20, ऑक्सफोर्ड, 88-85*
8. *मिलिन्दपन्हों, संपादित, वाडेकर, आर.डी., बम्बई, 1940*
9. *ऋग्वेद, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर, 2016*